

“ध्वनि काव्य की स्थापना”

डॉ० अशोक कुमार दुबे

एसोशिएट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, बी०एस०एन०वी० पी०जी० कॉलेज लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत ।

सारांश

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों भरत, भामह, दण्डी, रुय्यक आदि ने वाच्य का प्रतिपादन कर अलङ्कृत शब्द और अलङ्कृत अर्थ तथा रीतिमयी रचना को काव्य माना परन्तु ध्वनिकार ने व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ को ‘ध्वनि’ कहा—

“यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिकथित” ।¹

अर्थात् जहाँ अर्थ (वाच्यविशेष) अपने को तथा शब्द (वाचक-विशेष) अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान् लोग ‘ध्वनि’ कहते हैं। इससे वाच्य-वाचक के चारुत्व हेतु उपमा आदि और अनुप्रासादि से अलग ही ‘ध्वनि’ का विषय है यह बताया गया है। इस प्रकार ध्वनिविरोधियों के प्रथम तर्क कि अलंकार, गुण, वृत्ति, रीतियों से पृथक् ‘ध्वनि’ नामक नया पदार्थ कौन सा है का खण्डन हो जाता है।

मूल शब्द: ध्वनि, अलंकार ।

प्रस्तावना

इस प्रकार ध्वनिविरोधियों के प्रथम तर्क कि अलंकार, गुण, वृत्ति, रीतियों से पृथक् ‘ध्वनि’ नामक नया पदार्थ कौन सा है का खण्डन हो जाता है। ध्वनि विरोधियों के दूसरे तर्क—

“प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वानिर्नास्ति” ।²

का खण्डन करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि वह केवल लक्षणकारों तक ही प्रसिद्ध नहीं है अपितु लक्ष्यरामायण, महाभारत आदि की परीक्षा करने पर सहदयों का आह्लादक काव्य का सारभूत ‘ध्वनि’ ही है। तद्भिन्न नहीं ।

“कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादि प्रकारेष्वन्तर्भावः”³

का खण्डन करते हुए कहते हुए कहते हैं कि केवल वाच्य वाचक भाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यंजना भाव पर आश्रित ‘ध्वनि’ का अन्तर्भाव अलङ्कारों में कैसे हो सकता है?

वाच्य—वाचक (शब्द और अर्थ) के चारुत्व हेतु उपमा तथा अनुप्रासादि अलङ्कार तो ध्वनि के अङ्गभूत हैं ‘ध्वनि’ तो अङ्गी अर्थात् प्रधान रूप है। इस पर भी यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती हो वहाँ ‘ध्वनि’ का अन्तर्भाव भले ही न माने परन्तु जहाँ पर प्रतीति होती है— समासोक्ति, आक्षेपादि अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जायेगा। इस मत के निराकरण हेतु कहा गया — *उपसर्जनीकृतस्वार्थो* अर्थात् *‘जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ का उपसर्जन करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करे, विद्वानों ने उसे ‘ध्वनि’ नाम दिया।* समासोक्ति आदि अलङ्कारों में वाच्यार्थ के गौण होने से उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यहाँ भाक्तवाद का खण्डन करना आवश्यक है। अतः ध्वनि विरोधियों का अकाण्डताण्डव व्यर्थ ही है।

‘यत्रार्थः शब्दो’—इत्यादि कारिका में ‘व्यङ्क्तः’ पद का द्विवचन में रखने का तात्पर्य है कि व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं। किन्तु एक प्रधान कारण दूसरा सहकारी कारण होता है। ‘यत्रार्थः शब्दो वा—में ‘वा’ पद शब्द और अर्थ के प्राधान्याभिप्रायेण विकल्प को बोधित करता है। अभिव्यक्ति में कारण दोनों होते हैं परन्तु प्राधान्य शब्द और अर्थ में से एक का ही होता है।

इसी सन्दर्भ में *‘तमर्थम्’* पद का अभिप्राय है कि ‘प्रतीयमान वह है जो प्रतिभाजन्य है तथा महाकवियों की वाणी में वाच्याश्रित अलङ्कारादि से भिन्न, अङ्गनाओं में अवयवों से अतिरिक्त ‘लावण्य’ की भांति कुछ और ही है वही ‘ध्वनि’ है—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तिवाणीसु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनाषु” ।⁴

प्रतिभा विशेष आचार्य मम्मट ने भी उत्तर व्यङ्ग्यार्थ काव्य को परिभाषित करते हुए उसे ध्वनि कहा। यह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है काव्य मर्मज्ञों ने उसे ध्वनि कहा।

‘इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः’ ।⁵

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्द अर्थ को गौण कर चमत्कृत अर्थाभिव्यक्ति को उत्तम काव्य माना।

‘आचार्य अभिनवगुप्त की टिप्पणी (लोचन से) सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि’

स (काव्य विशेषः) इति ‘प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यया मुख्य तथा ध्वनि रिति प्रतिपमदितम्’ तात्पर्य यह है कि ध्वनि की संज्ञा केवल काव्य की नहीं प्रदान की गयी वरन् शब्द अर्थ के व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति परक अर्थ ये हैं—

- 1 ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दो ध्वनिः ।
- 2 ध्वनति ध्वनयति वा यः वयञ्जकको अर्थः ध्वनिः ।

3 ध्वन्यते इति ध्वनिः इसमें वस्तु अलंकार रस ये तीनों व्यङ्ग्य अर्थ आ जाते हैं (जो ध्वनित किया जाए) ।

4 ध्वन्यते अनेनेति (जिसके द्वारा ध्वनित) इससे शब्द अर्थ के व्यापार—व्यञ्जक आदि शक्तियों का बोध होता है।

5 ध्वन्यते अस्मिन्निति—जिसमें वस्त्वलंकार रस आदि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार व्यञ्जक शब्द अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ व्यंजना और व्यङ्ग्य प्रधान काव्य हेतु इनमें पाँचों का भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में ध्वनित होता है। सहित्य दर्पण कार के अनुसार ध्वनि का अर्थ है व्यङ्ग्य अर्थात् व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए।

वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः। इसका आधार है कि चारुत्व रमणीयता का उत्कर्ष इस प्रकार वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि की प्रेरणा वस्तुतः स्फोट सिद्धान्त से हुयी। वैयाकरण ही वे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने श्रयमाण वर्णों को ध्वनि कहा। अतः कहा गया ध्वनि रिति सूरिभिः कथितः। वैयाकरणों ने प्रधान भूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति करने में समर्थ शब्द और अर्थ के लिए ध्वनि पद का व्यवहार किया। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दों से उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्क में नित्य (रूप से) वर्तमान स्फोट को जगा देता है। यही वैयाकरणों की ध्वनि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य आनन्दवर्धन ने अभाव वाद भाक्तवाद अलक्षणीयतया वाद आदि सभी ध्वनि विरोध मतों को खण्डन का तथा अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण किया। अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके जो अन्य अर्थात् व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराता है। वही ध्वनि है वही काव्य की आत्मा है काव्यस्वाम्ताध्वनिः। इस प्रकार ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थापना की अस्ति ध्वनिः।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु अर्थात् महाकवियों की वाणियों में वह (वाच्य से भिन्न) प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणीयों के प्रसिद्ध मुख नेत्र नासिकादि अवयव में से पृथक् लावण्य के समान है और वहीं प्रतीयमान है। अङ्गनाओं के लावण्य की तरह (आकर्षक) दोष रहित गुण अलंकारों से अलंकारों होकर काव्य भी आकर्षक होता है। परन्तु इससे भिन्ना प्रतीयमान अर्थ भी यदि उसमें है तो वह सहृदय हृदय संवेद्य होता है।

‘पुन’ पद प्रतीयमान का वैशिष्ट्य बता रहा है। महाकवीनां कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कवियों में प्रतीयमान अर्थ व्यापक रूप से रहता है वे ही महाकवि कहे जाते हैं।

प्रसिद्धवयवातिरिक्त कहकर प्रतीयमान अर्थ को लोक प्रसिद्ध काव्य के अवयव गुणालंकारदि से पृथक्त्व सिद्ध करते हैं। विभक्ति पद से प्रतीयमान अर्थ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

लावण्य का अर्थ लोचनकार अभिनवमुक्त इस प्रकार बताते हैं। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्गयम वयव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव न चावमवानामेव निदोषिता वा भूषणयोगोऽप्य लावण्यम्।

इस प्रकार वाच्य से पृथक् प्रतीयमान अलंकारों की लावण्य की तरह ही कुछ अन्य ही है।

(व्यङ्ग्य)

वाच्य। प्रतीयमानयोर्मेदम् लावण्य की तरह ही प्रतीयमान कुछ अन्य ही वस्तु हैं। प्रतीयमानं पुनरन्यदेव0.....।

वाच्य से ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है परन्तु वह व्यङ्ग्यार्थ वाच्य नहीं है। वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से

आक्षिप्त होकर वस्तुभाव, अलंकार और रसादि भेद से (त्रिविध या) अनेक प्रकार का है।

वस्तुध्वनि। अलंकार ध्वनि लौकिक भेद हैं क्योंकि इसे वाच्य प्रतीयमान भेद में बांटा जा सकता है परन्तु ‘रसध्वनि’ को वाच्य। प्रतीयमानरूप भेद में नहीं किया जा सकता वस्त्वलंकार ध्वनि का अन्ततः पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है अतः रस ध्वनि ही इनमें श्रेष्ठ है।

जब वस्तु वाच्य न होकर व्यङ्ग्य हो जाय तो वस्तुध्वनि होती है, इसी प्रकार जब अलंकार वाच्य न होकर व्यङ्ग्य हो जाय तो अलंकार ध्वनि होती है।

वाच्य से गुण, अलंकारों का ग्रहण होता है। प्रतीयमान से रस का व्यङ्ग्य का ग्रहण। वस्तुध्वनि का वाच्यार्थ से स्वरूपकृत भेद— वस्तु ध्वनि वाच्य से अत्यन्त भिन्न है क्योंकि कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर भी प्रतीयमान निषेध—रूप होता है। जैसे—

“भ्रमधार्मिक विस्त्रब्धः स शुनकोडय मारितस्तेन। गोदानही कच्छ कुंजवासिना दृप्तसिंहेन।”

इस श्लोक में ‘भ्रम’ पद वाच्यार्थ विधि रूप है। ‘धार्मिक पद पण्डित जी भीरुता का, दृप्त पद सिंह की भीषणता के अतिरेक का, ‘वासिन पद सिंह की निरन्तर विद्यमानता का सूचक है। यहां उस पुंश्लोकी के कहने का तात्पर्य यह है कि वह पण्डित फिर कभी इधर न आये। यहां वाच्यार्थ तो विधि रूप है परन्तु प्रतीयमान अर्थ (भ्रमण निषेध) निषेध रूप वस्तु ध्वनि है, अतः वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ भिन्न है। कहीं वाच्यार्थ के निषेध रूप होने से प्रतीयमान विधि रूप होता है—

“श्वश्रूत्र निमज्जति अत्राहं दिवसं ———इत्यादि उदाहरण में ‘मम शय्यायां मा निर्मक्ष्यसि — यह वाच्या प्रतिषेध रूप होने पर, प्रतीयमान अर्थ ‘मेरी शय्या पर ही गिरना’—विधि रूप है। अतः वाच्या प्रतीयमान से भिन्न है। कहीं वाच्य विधि रूप होने पर, प्रतीयमान अनुभयात्मक (विधि, निषेध से भिन्न) होता है—

‘ब्रज ममैवैकस्या 0——— इत्यादि उदाहरण में ‘ब्रज’ का वाच्या अर्थ विधि रूप है, परन्तु प्रतीयमान अर्थ नायिका का प्रगाढमन्यु (दुःख) प्रतीति होता है, जो न तो जाने के अभाव रूप निषेध को और न ही जाने रूप विधि को प्रदर्शित करता है अतः यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है।

वाच्यार्थ के प्रतिषेध रूप होने पर भी कहीं प्रतीयमान अनुभयरूप होता है।

‘प्रार्थये तावत् प्रसीद0——— इत्यादि उदाहरण में नायक का नायिका के प्रति ‘चाटुविशेष’ व्यङ्ग्य है। यहाँ वाच्यार्थ ‘निवतस्व’ (मत जाओ) निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ न तो निषेध रूप है न ही विधि रूप अतः अनुभव रूप है।

5. इस प्रकार स्वरूपकृत भेद के अलावा भी वाच्य प्रतीयमान में विषयगत भेद भी है?

“कस्य वा न भवति रोषो0——— इत्यादि उदाहरण में वाच्यार्थ नायिका के प्रति कहा जा रहा है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ है—चौर्यरति के कारण ‘व्रण नहीं अपितु भ्रमर द्वारा कमल समझकर सँघने के कारण व्रण हैं। यहाँ विषयगत भेद है वाच्यार्थ का भेद ‘नायिका’ में तथा व्यङ्ग्यार्थ / प्रतीयमानार्थ का भेद नायक है अतः वस्त्व ध्वनि के विषय स्वरूप मत भेद से वाच्य और

प्रतीयमान का भेद स्पष्ट है। इस प्रकार वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत तथा व्यंग्यार्थ दुसरो के लिए साहित्यदर्पणपण आचार्य विश्वनाथ ने अन्य हेतुओं के आधार पर भी वाच्यार्थ/व्यङ्ग्यार्थ में भेद किया—

“बोद्धारूप— स्वरूप संख्यानिमित्तकार्य प्रतीतिकालानाम।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोडभिधेयतो व्यङ्ग्य।।”

बोद्धारूप— वाच्यार्थ को जानने की निपुणता वैयाकरणों को जबकि व्यङ्ग्यार्थ केवल सहृदय ही जान सकता है। ध्वनिकर भी इसे शब्दार्थ शासनज्ञान— इत्यादि कहकर पुष्ट करते हैं।

संख्यारूप— वाच्यार्थ एक तथा व्यंग्यार्थ अनेक ही सकता हैं ‘गतोडस्तमर्कः उदाहरण में वाच्यार्थ ‘सूर्यास्त’ है परन्तु अभिसारिका , श्रमिक आदि के लिए तदनु रूप अर्थ व्यङ्ग्य हैं।

निमित्त— वाच्यार्थ को बोध शब्दोच्चारण के साथ ही जबकि व्यङ्ग्यार्थ तो सहृदयों की निर्मल ‘प्रतिभा’ से होता है। आनन्दवर्धन भी पुष्ट करते हैं—

कार्य/प्रतीत ‘तद्वत् सचेतसां— भृतित्येवावभासते।
वाच्य का कार्य ‘ अर्थ प्रतीति’ परन्तु व्यङ्ग्यार्थ का कार्य चमत्कारोत्पत्ति।

काल भेद—वाच्यार्थ का बोध पहले, व्यङ्ग्यार्थ का बाद में।

आश्रय— वाच्य का आश्रय शब्द, जबकि व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय शब्द, शब्द का अर्थ, वर्ण, शब्दांश , रचना आदि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टियों से वाच्यार्थ तथा प्रतीयमानार्थ या व्यङ्ग्यार्थ एक न होकर दोनों एक दूसरे से भिन्न है। अन्विता०, अभि० दोनों मानते है। बिना व्यंजना के वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती ।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। कौचद्वन्द्व
वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।

अर्थात् काव्य की आत्मा वह प्रतीयमान अर्थ ही है। जैसाकि प्राचीन काल में कौचयुगल के वियोग से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का ‘शोक’ (करुण रस का स्थायी भाव)श्लोक रूप में परिणत हो गया।

‘काव्यस्यात्मा स एवार्थः— वह रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है यहाँ ‘स एव’ इस पद से रस ध्वनिकार ने तीन प्रकार की ध्वनियों (वस्तु , अलङ्कार और रसध्वनि) में से रसध्वनि को ही श्रेष्ठ सारभूत काव्य की आत्मा स्वीकार किया है इस प्रकार काव्य का रमणीयार्थ या प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा है। ‘शोकः श्लोकत्वमागतः’ कहकर ध्वनिकार ने रसध्वनि के उदाहरण के रूप में आदिकवि की रचना रामायण को प्रस्तुत किया। आदि कवि का आदि श्लोक जो काव्य बना—

‘मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् कौच मिथुनादेक मवधीः काममोहितम्।

इस श्लोक से भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार सभी रसों में ‘करुण’ को सर्वश्रेष्ठ मानते थे तथा उनके अनुसार रामायण करुण रस प्रधान है। उनके अनुसार,

“रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः
“शोकः श्लोकत्वमागतः” इत्येवं वादिना—
स्वप्रबन्धसमुपरचपता(चतुर्थ उघोत)

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार,

“न वु मुनेः श्लोक इति मन्तव्यः। एवं ही सति दुःखेन सोडयि दुःखित इति कत्वा रसस्यात्मेति

शोकः ऋषि द्वारा आस्वाद्यमान होकर अलौकिक हो गया और ऋषि के हृदय में करुण रस की स्थित उत्पन्न होकर वह शोक में निरंकाशं परिणत हो गया।

विविधवाच्यवाचकः इत्यादि वृत्ति का तात्पर्य यह है कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ सारभूत होने पर उसमें अर्थालंकारों शब्दालंकारों और सङ्घटना का भी सौन्दर्य होने से रस और भी आह्लादक होता है।

‘निहतः’ और सहचराविरहकातरः ये दो विशषण कौच्यी’ के है। मरते समय जैसे सांसारिक पुरुष को अपने स्त्री-बच्चों का वियोग दुःखी करता है उसी प्रकार बाणविद्ध वह कौच्यी के कन्दन से समुदभूत वह शोक आदिकवि का शोक बनकर श्लोक रूप में परिणत हो गया। करुण ‘मा निषाद०—इत्यादि श्लोक में विप्रलम्भ न होकर करुणा श्रंगार क्यों है? क्योंकि जब पुनर्मित्जन की संभावना हो तो विप्र० श्रुम होता है एवं मरणान्तक वियोग होने पर ‘करुण’ होता है। इस प्रकार यह पद्य हृदयस्थ भाव का काव्य रूप में प्रकटीकरण का प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कौच्यप्रसंग से जो शोक उत्पन्न होकर उत्कृष्ट काव्य बना वह प्रतीयमान रस ही है। अतः वह प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा है यही ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन का अभिप्राय है।

भाक्तवादस्य निराकरणम्

व्याख्यार्थः

“भक्त्या विभर्ति नैकत्वं रूप भेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेश्चाव्याप्तेन चासौ लक्ष्यते तथा।।”

ध्वनि विरोधियों के तीन मत है— अभाववाद, भाक्तवाद और अलक्षणीयतावाद यहां ध्वनि विरोधियों के द्वितीय मत भाक्तवाद का निराकरण करते हुए ध्वनिकार कहते है कि ‘ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता।

भक्त्या विभर्ति०— रूप में भेद होने के कारण यह ‘ध्वनि भक्ति के साथ एकच्य को नहीं प्राप्त हो सकती अर्थात् भक्ति, ध्वनि का पर्याय नहीं हो सकती है। रूप भेदादयं— कहकर ध्वनिकार ध्वनि के रूपो (वाच्य, वाचक, व्यङ्ग्य, व्यञ्जना व्यापार और काव्यविशेष) से भक्ति को पृथक् सिद्ध करते हैं। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यङ्ग्य प्रधान होते हुए जहां वाच्यन्वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से प्रकाशित किया जाता है वह ‘ध्वनि’ है और भक्ति तो उपचार (गौण) मात्र है— (लोचन)

“तच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः” अर्थात् सङ्केतित अर्थ को छोड़कर उससे सम्बन्ध अर्थ का बोध कराना उपचार है। इसलिए ‘ध्वनि’ भक्ति का रूप भी नहीं हो सकती तथा ‘भक्ति’ ध्वनि का लक्षण भी नहीं क्योंकि, अतिव्याप्ते ०— इत्यादि। उसमें अतिव्याप्ति इसलिए है क्योंकि ‘ध्वनि’ से भिन्न विषय में भी भक्ति हो सकती है। जहाँ व्यङ्ग्य के कारण विशष सौन्दर्य नहीं होता वहाँ भी कवि प्रसिद्धि, उपचार या गौणी शब्द वृत्ति से व्यहत्त होते हुए देखे जाते हैं— परिम्लान पीन्स्तन

— वदति बिसिनीपत्रशयनम् इत्यादि उदाहरण में ‘वदति’ पद में लक्षण रूप भक्ति का आशय लिया गया है। —भक्ति के ध्वनि से भिन्न स्थानों पर व्याप्त होने से ‘अतिव्याप्ति दोष’ के कारण ‘ध्वनि’ भक्ति या लक्षणा नहीं है। विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूल ध्वनि और ध्वनि के अन्य अनेक प्रकारों में भक्ति या लक्षणा के व्याप्त न होने से ‘अव्याप्ति दोष’ के कारण भक्ति ‘ध्वनि’ का लक्षण नहीं हो सकती।